पालन करना चाहिए। अमर्यादित विषयभोग भवबन्धन का हेतु है, परन्तु शास्त्रीय विधि-विधान का अनुसरण करने वाला इन्द्रियविषयों में नहीं बँधता। उदाहरण-स्वरूप, मैथुन बद्धजीव की एक आवश्यकता है और वैवाहिक सम्बन्ध के रूप में अनुमत भी है। शास्त्र में अपनी स्त्री के अतिरिक्त किसी भी अन्य स्त्री के साथ मैथुनिक सम्बन्ध में प्रवृत्त होने का निषेध है। अन्य सब स्त्रियों में मातृभाव रखना उचित है। परन्तु शास्त्र की ऐसी स्पष्ट आज्ञा होने पर भी अन्य स्त्रियों से निषिद्ध सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति मनुष्य में रहती है। इन प्रवृत्तियो को निगृहीत करना होगा। अन्यथा वे स्वरूप-साक्षात्कार के पथ मे विघ्नकारी सिद्ध होंगी। जब तक देह विद्यमान है, तब तक उसकी आवश्यकताओं की नियमित पूर्ति की जा सकती है। परन्तु, हमें इस प्रकार के संयम पर ही पूर्णरूप से निर्भर नहीं रहना चाहिए। विधि-विधान का पालन भी अनासक्त भाव से ही करे, क्योंकि मर्यादित इन्द्रियतृप्ति करते हुए भी मार्गभ्रष्ट होने का भय बना रहता है, उसी प्रकार जैसे राजपथ पर भी दुर्घटना हो सकती है। अत्यन्त सावधानीपूर्वक संरक्षित पथ के लिए भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह सर्वथा निरापद है। विषयसंग के कारण जीव में इन्द्रियतृप्ति की वासना चिरंतन काल से चली आ रही है। अतः संयमित रूप से इन्द्रियतर्पण करने पर भी अधःपतन की संभावना बनी रहती है। इस कारण मर्यादित इन्द्रियतृप्ति में भी लेशमात्र आसक्ति न हो जाय, पूर्ण सावधान रहे। परन्तु श्रीकृष्ण की भक्ति से भावित कर्म की यह विशेषता है कि वह सब प्रकार की इन्द्रिय सम्बन्धी क्रियाओं से विरत कर देता है। अतएव जीवन की किसी भी अवस्था में कृष्णभावनामृत से विरक्त होने की चेष्टा न करे; सब प्रकार की इन्द्रिय-विषयैषणा से विरक्त होने का एकमात्र प्रयोजन अन्त में कृष्णभावनाभावित हो जाना ही है।

17/3

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

श्रेयान्=अधिक कल्याणकारी है; **स्वधर्मः**=अपना कर्तव्य; **विगुणः**=दोष-युक्त भी; **परधर्मात्**=दूसरों के धर्म से; **स्वनुष्ठितात्**=भलीभाँति आचरित; **स्व-धर्मे**=स्वधर्म में; **निधनम्**=मरना भी; **श्रेयः**=उत्तम है; **परधर्मः**=दूसरों का कर्तव्य; **भयावहः**=भयदायक है।

अनुवाद

दूसरे के धर्म की अपेक्षा दोषयुक्त होने पर भी स्वधर्म का आचरण अधिक कल्याणकारी है। परधर्म में प्रवृत्त होने की तुलना में स्वधर्म में मरना भी उत्तम है; दूसरे का धर्म तो भय को देने वाला है।।३५।।

तात्पर्य

परधर्म की अपेक्षा पूर्ण कृष्णभावना से युक्त होकर स्वधर्म का ही आचरण करना चाहिए। स्वधर्म का विधान गुणों के द्वारा निर्धारित मनोदैहिक स्थिति के अनुसार